

धर्मसाधना का मूलाधार : समत्वयोग

□ विद्वद्वर्य श्री विनोदमुनि

धर्म की राह पर तो चल पड़े, किन्तु समत्वयोग की साधना कहाँ? धर्म-पंथ-सम्प्रदाय के दुराग्रह-हटाग्रह के कारण एक-दूसरे को हीन एवं नीचा दिखाने की प्रवृत्ति का परित्याग कहाँ किया? निंदा, कटुता वैमनस्य की वैतरणी का प्रवाह तो निरंतर जारी है। वस्तुतः समत्वयोग के अभाव में धर्म का पथ भी कंटीला है। आज के संदर्भ में समत्वयोग का विश्लेषण कर रहे हैं — विद्वद्वर्य श्री विनोदमुनिजी म.!

— संपादक

भौतिक विज्ञान : मृग मरीचिका

वर्तमान भौतिक विज्ञान के युग में मनुष्य बैलगाड़ी के युग को लांघकर राकेट-युग में प्रविष्ट हो गया है। इसी भौतिक विज्ञान के माध्यम से मनुष्य, जल, स्थल और नभ की तीव्रगति से यात्रा करने में सफल हो गया है। इतना ही नहीं उसने चन्द्रलोक की सफल यात्रा करने के साथ-साथ मंगल आदि नये-नये ग्रहों की शोध करके विश्व को आश्चर्य में डाल दिया है। इन भौतिक उपलब्धियों को मनुष्य ने वरदान समझकर स्वीकार किया। भौतिक विज्ञान के विकास से प्राप्त सुख साधनों को पाकर मनुष्य ने सोचा-समझा था कि इससे पृथ्वी पर बहने वाला दुःख का दरिया सदा के लिए सूख जाएगा, अशान्ति का धधकता हुआ दावानल प्रशान्त हो जाएगा लेकिन वह मृग-मरीचिका के समान ही धोखा देने वाला साबित हुआ। भौतिक विज्ञान पर अध्यात्म का अंकुश न होने के कारण वह वरदान रूप न होकर अभिशाप रूप ही बन गया। सच है — अध्यात्म (आत्मधर्म) से अनुप्राणित तथा नियंत्रित न होने के कारण कोरे भौतिक विज्ञान ने विश्व में विध्वंस का वातावरण ही तैयार किया।

आत्म-धर्म के अभाव में मानव क्या है ?

आत्म धर्म के अभाव में भौतिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त तथाकथित सुख-सुविधा के साधनों, अथवा केवल भौतिक पर-पदार्थों को अपनाकर सुख-शान्ति की कल्पना करना

सपने में लड्डू खाने के समान है। आत्म धर्म के अभाव में कोई भी प्राणी वास्तविक सुखशान्ति का स्पर्श नहीं कर सकता। वह भौतिक पदार्थों को पाने की होड़ में, अहंकार, ममकार, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, आसक्ति आदि विषमताओं से घिरा रहता है। विविध विषमताओं के दुश्चक्र में फंसकर आत्मधर्म विहीन मानव नाना आधि-व्याधि-उपाधियों में पड़ा रहता है। उसका हृदय संकीर्ण, स्वार्थी और दम्भी बन जाता है। निपट स्वार्थी मनुष्य धन वैभव तथा भौतिक सुख-साधनों एवं सुविधाओं को पाने के लिए राक्षस बनकर दूसरों का शोषण व उत्पीड़न करने और परहित का घात करने से भी नहीं चूकता।^१ यहाँ तक कि वह जिस परिवार, समाज, धर्म सम्प्रदाय, जाति, प्रान्त और राष्ट्र में पला, बढ़ा है, वहाँ भी आत्म धर्म की मर्यादाओं को लांघकर संकीर्ण स्वार्थी बन जाता है। वह केवल स्वकेन्द्रित होकर मनुष्य के रूप में पशुओं जैसा आचरण करने लग जाता है।^२ वह मनुष्यता से गिरकर पशुता की कोटि में आ जाता है, इतना ही नहीं कभी-कभी तो मानवता के बदले दानवता का, इन्सानियत के बदले शैतानियत का रूप धारण कर लेता है। वह परिवार, समाज, राष्ट्र के अध्यात्म प्रधान आचार विचार को भी नजरअंदाज कर देता है। फलतः अपने ही निकृष्ट आचरण और व्यवहार से वह स्वयं को पतित बना ही लेता है। दुःख के सांचे में ढाल लेता है, दूसरों को भी पतित और दुःखी बनाने की परम्परा अपने पीछे छोड़ जाता है उन्हीं

धर्मविहीन रूढ़ परम्पराओं को भावी पीढ़ी धर्म समझने लगती है।

धर्म शब्द का आशय एवं लक्षण

एक बात समझ लेनी आवश्यक है कि जहाँ-जहाँ शास्त्रों में या धर्मग्रन्थों में धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ-वहाँ आत्मधर्म समझना चाहिए क्यों कि कार्तिकेयानुप्रेक्षानुसार -“वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है।^३ इस दृष्टि से आत्मा का अपना स्वभाव ही धर्म है। चाणक्य के अनुसार-“वही सुख का मूल है।”^४ वही उत्कृष्ट मंगल है।^५ धर्म सब दुःखों का अतुल औषध है। आत्मा के लिए वही विपुल बल है।^६ यह धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है, इस जन्म में भी और पर जन्म में भी।^७ यही कल्पतरु और कामधेनु है। कणादऋषि के अनुसार-“जिससे अभ्युदय की और निःश्रेयस् यानी मोक्ष की प्राप्ति हो वही धर्म है।”^८ आचार्य समन्तभद्र के अनुसार- “जो उत्तम सुख को धारण-ग्रहण कराता है वह धर्म है। उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग बताकर, मोक्ष को उत्तम सुख प्राप्ति का कारण बताया है।^९ आचार्य तुलसी ने धर्म का लक्षण किया है- (संवर और निर्जरा द्वारा) ‘आत्मशुद्धि का साधन धर्म है।^{१०} कतिपय आचार्यों और मनीषियों ने धर्म शब्द का निर्वचन करते हुए धारण करने के कारण इसे धर्म कहा है।^{११} क्या और कैसे धारणा करता है यह? इसके उत्तर में उन्होंने कहा-“दुर्गति में, कुपथ में गिरते हुए आत्मा को जो धारण करके रखता है, वह धर्म है।”^{१२}

शुद्ध आत्मधर्म : किसी की बपौती नहीं

इस दृष्टि से जब विश्व की समस्त आत्माओं के स्वभाव को धर्म कहा है, तब निश्चय ही वह आज के विभिन्न विशेषणों वाले धर्मों, पंथों, संप्रदायों, धर्मसंघों या मतों, दर्शनों से बिल्कुल अलग है, यह शुद्ध आत्म धर्म

किसी धर्मसंघ, पंथ, मत या सम्प्रदाय से बंधा हुआ नहीं है और न ही इस पर किसी भी तथाकथित धर्मसंघ या विशेषणयुक्त धर्म, पंथ आदि का एकाधिकार है, और न इस पर किसी की बपौती है। जो इस शुद्ध धर्म का आचरण करता है, उसी का यह धर्म है। इस दृष्टि से इस शुद्ध आत्मधर्म पर न किसी धर्म, सम्प्रदाय, पंथ, मत या विशेषणयुक्त धर्म का आधिपत्य अतीत में रहा है, न ही वर्तमान में है और न ही अनागत में रहेगा। यह शुद्ध धर्म किसी भी साम्प्रदायिक या पांथिक वेश-भूषा, वर्ण जातिपांति या बाह्य क्रियाकाण्ड में नहीं है।^{१३} वेष, चिह्न आदि के नानाविध विकल्प तो सिर्फ जनसाधारण के परिचय-पहचान के लिए हैं।^{१४} वस्तुतः धर्म उसी का है, जो उसका पालन-धारण-रक्षण करता है और धर्म का पालन रक्षण करने वाले का रक्षण भी वह करता है।^{१५} रक्षण से मतलब यहाँ आत्मरक्षण से है। जो आत्माएँ धर्म का पालन-रक्षण करती हैं, अपने स्वभाव में रमण करती हैं, उनको वह धर्म विभाव से तथा परभावों के प्रति रागद्वेषादि से बचाता है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है- (धर्मपालन द्वारा) सर्वेन्द्रियों को सुसमाहित होकर आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। जो धर्मपालन के द्वारा आत्मा की रक्षा नहीं करता है, वह जन्ममरण के मार्ग (संसार भ्रमण) को पाता है और आत्मा को सुरक्षित रखने वाला समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।^{१६}

शुद्ध धर्म : ध्रुव और शाश्वत

विविध विशेषणों वाले धर्म से सम्बन्धित समाजों में प्रायः इस बात की बहुत चर्चा चलती रहती है कि कौन-सा और किसका धर्म प्राचीन है और कौन-सा किसका धर्म अर्वाचीन है? शुद्ध आत्मधर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रश्न खड़े करना ना समझी है। यह शुद्ध धर्म न तो कभी पुराना होता है और न ही नया कहलाता है। वह तो ध्रुव, नित्य, शाश्वत है।^{१७} अगर आत्मधर्म पुराना हो

सकता है तो वह एक दिन नष्ट भी हो सकता है। और जो नष्ट होता है समय-समय पर परिवर्तित होता रहता है, वह शुद्ध आत्म धर्म नहीं होता।

तीर्थकर : आत्मधर्म के संस्थापक नहीं

जैन सिद्धान्त और जैन धर्म के इतिहास से अनभिज्ञ कई लोग कहते हैं - प्रत्येक तीर्थकर नये आत्मधर्म की स्थापना करते हैं परन्तु ऐसी बात नहीं है। वे तीर्थ की या संघ की स्थापना करते हैं। 'लोगस' के पाठ में उनकी स्तुति करते हुए कहा गया है - धम्म तित्थयरे जिणे,^{१८} धर्म से युक्त तीर्थ की-संघ की स्थापना करने वाले जिन - वीतराग! इसका मतलब यह नहीं है कि वे आत्मधर्म की-वीतराग भाव, समभाव, अहिंसा, क्षमा, सत्य आदि की नये सिरे से स्थापना करते हैं। समता, अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि जो आत्मधर्म हैं वे आत्मा के स्वभाव हैं। इसी प्रकार निश्चय दृष्टि से सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र; ये आत्मा के स्वरूप हैं, आत्मा के निजी गुण या स्वभाव हैं। क्या तीर्थकर सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र को नये सिरे से घड़ कर तैयार करते हैं? नहीं। सम्यग्दर्शन ज्ञान युक्त चारित्र वही है जो भगवान् महावीर से पूर्व के तीर्थकरों के युग में था। यहाँ चारित्र का अर्थ है-समभाव। मोह-क्षोभविहीन वीतराग भाव आदि। ऐसा नहीं है कि भगवान् ऋषभदेव का वीतरागभाव या समभाव अलग तरह का था और भगवान् महावीर का दूसरी तरह का था। समभाव या वीतरागभाव की साधना में कोई अन्तर नहीं है, न था और न भविष्य में होगा। स्पष्ट है, तीर्थकर सम्यक्ज्ञान-दर्शन युक्त भाव चारित्र में कोई परिवर्तन नहीं करते। वे युग के अनुरूप बाह्य आचार में, विधि-निषेध के नियमोपनियमों में देशकालानुसार परिवर्तन करते हैं। अतः किसी भी तीर्थकर के साधु हों उनके समभाव रूप या वीतराग भावरूप चारित्र में एकरूपता थी, है, रहेगी। किसी भी धर्मतीर्थ स्थापक तीर्थकर ने रागभाव को या

विषम भाव को आत्म-भावरूप चारित्र नहीं कहा है। क्यों कि रागादि भाव बन्ध का कारण है और यह आत्मभावरूप चारित्र संवर-निर्जरा रूप होने से मुक्ति (मोक्ष) का कारण है। इसलिए सराग भाव या विषम भाव जहाँ हो, वहाँ बाह्य आचार या कल्प मर्यादाएं हो सकती हैं, उसे व्यवहार चारित्र भी कहा जा सकता है। व्यवहार चारित्र, कल्प, या बाह्य आचार कभी एक-सा नहीं रहता, वह देश, काल के अनुसार बदलता रहता है, बदलता रहा है। तीर्थकर अपने देशकालानुरूप चतुर्विध संघ के बाह्य आचार, कल्प या व्यवहार चारित्र में परिवर्तन करते हैं।

समता-वीतरागता ही आत्मधर्म

यही कारण है कि जहाँ आत्मधर्म किस में है? यह प्रश्न आया, वहाँ समभाव को आत्मा का स्वभाव = परिणतिरूप होने से धर्म=आत्मधर्म कहा है। आचारांग सूत्र में कहा है - आर्यो ! तीर्थकरों ने समता में धर्म कहा है।^{२१} जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, उसी के जीवन में समता धर्म/आत्मधर्म है।^{२२} भगवती सूत्र में कहा गया है - आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही संवर है। आत्मा ही वीतराग भाव है, वही समता, संवर और वीतरागता का प्रयोजन है।^{२३} जो सर्वप्राणियों के प्रति आत्मभूत = आलोपम्यभाव से ओतप्रोत है, सभी प्राणियों को अपने समान देखता है, आस्रवों (कर्मबन्ध के कारणों) से दूर रहता है, वह पाप कर्म नहीं करता।^{२४} जैन संस्कृति समत्व की संस्कृति है। जैन धर्म के तीर्थकरों, आचार्यों या साधु-साध्वियों ने अपने सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को सम बने रहने की, समभाव रखने की प्रेरणा दी है। भगवान् महावीर ने आत्म-समत्व पर जोर देते हुए एक सूत्र दिया - 'एणे आया'। अर्थात् आत्मस्वरूप की दृष्टि से, विश्व की समस्त आत्माएँ एक हैं। स्वरूप की दृष्टि से हमारी और सिद्धों की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने कहा - सब प्राणियों के प्रति

मेरा समभाव=एक जैसा भाव है।^{२६} तथागत बुद्ध ने भी कहा- “जैसा मैं हूँ वैसा ही जगत् के ये सब प्राणी हैं और जैसे ये हैं वैसा ही मैं हूँ।” सूत्रकृतांग में कहा है—जो समस्त जगत् को समन्वय की दृष्टि से देखता है वह किसी का रागभाववश प्रिय या द्वेषवश अप्रिय नहीं करता।

जब मानव के अन्तःकरण में आत्मा-एकत्व, या आत्मौपम्य की भावना सुदृढ़ रूप से जम जाती है या “आत्मवत्सर्वभूतेषु” की निष्ठा जागृत हो जाती है; अन्य प्राणियों में स्वात्मदर्शन की दृष्टि उद्बुद्ध हो जाती है, उस स्थिति में वह संसार में कहीं भी सामाजिक, राष्ट्रीय या आर्थिक किसी भी क्षेत्र में रहे उसके मन-वचन-काया से हिंसा, असत्य, चोरी, बेईमानी, भ्रष्टाचार, अब्रह्मचर्य आदि पापकर्म कैसे हो सकते हैं? ऐसे विराट् और विश्वव्यापी विचार जहाँ पर व्याप्त हों, वहाँ पाप के लिए अवकाश कहाँ है। इसके विपरीत सूत्रकृतांग सूत्र में स्पष्ट कहा है— जो व्यक्ति अपने सम्प्रदाय तथा साम्प्रदायिक व्रत नियमों की प्रशंसा करते हैं और आत्मधर्म से अनुप्राणित दूसरे के व्रत-नियम की गर्हा-निन्दा करते हैं, वे उसी में रचे पचे रहते हैं। ऐसे लोग जन्म-मरणी रूप संसार में ग्रस्त रहते हैं।’

समता से ही समस्याएं हल

जैन जगत् के एक मूर्धन्य आचार्य ने इसी समत्वधर्म के परिपालनार्थ एक अनुपम विचार सूत्र प्रस्तुत किया है— “जो अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए भी चाहे।”^{२७} यदि इस समत्व (आत्म) धर्म का पाठ जीवन के कण-कण में समा जाए तो विश्व की सभी समस्याओं का शीघ्र ही समाधान हो सकता है और सारे संसार को इस धर्म से सुखशांति प्राप्त हो सकती है। फिर वे समस्याएँ चाहे पारिवारिक हों, सामाजिक हों, राजनैतिक हों अथवा धार्मिक क्षेत्र की हों, उन सबका यथार्थ समाधान या हल हो सकता है और जगत् की खोई हुई शान्ति फिर से लौट सकती है।

सर्वत्र अमन चैन स्थापित हो सकता है। आवश्यकता है, सिर्फ समत्व की कसौटी पर कसकर इस (आत्म) धर्म को पल-पल पर प्रतिक्षण, प्रत्येक प्रवृत्ति में आचरण में लाने की, इस जीवन में साकार करने की।

समभाव के अभाव में साधना निष्प्राण

जिस प्रकार घृत में स्निग्धता, शर्करा में मधुरता और द्राक्षा में मृदुता इनका मौलिक गुण है, स्वभाव है; उसी प्रकार समता आत्मा का मौलिक गुण है। आत्म धर्म की साधना का मूलाधार है, प्राण है। वही साधक का साध्य है। इसके अभाव में जिस आचरण या साधना में हिंसादि विषमता हो, वह आचरण या वह साधना निष्प्राण है, निष्फल है। निष्प्राण साधना आदरणीय नहीं, हेय है, त्याज्य है। क्योंकि निरर्थक कष्ट देना या काया को पीड़ित करने पर भी उस साधना में अहिंसा, समता आत्मौपम्यभाव या करुणा भाव नहीं है तो वह साधना धर्म (संवर निर्जरा रूप) न होकर पाप बन जाती है, इसलिए वह अनुपयोगी है।

कषायादि हैं तो आत्मधर्म से दूर

कोई व्यक्ति कितनी ही कठोर क्रियाएँ करता है, लम्बे-लम्बे तप करके शरीर को सूखा डालता है, बाह्य आचार में फूंक-फूंक कर चलता है, स्वयं को उत्कृष्टाचारी और क्रियापात्री होने का दिखावा करता है परन्तु अन्तःकरण में क्रोध, अहंकार, दम्भ, माया, परपरिवाद, अभ्याख्यान, ईर्ष्या, द्वेष, मायामृषा, प्रतिष्ठा-प्रशंसा-सम्मान प्राप्ति की लालसा है, प्रसिद्धि के लिए आडम्बर परायण जीवन अपनाता है, अपने अनुयायियों की संख्या-बढ़ाने के लिए छल-प्रपंच करता है, शास्त्रज्ञान का, बौद्धिक प्रतिभा का एवं बाह्याचार-पालन का अभिमान या प्रदर्शन है तथा वह दूसरे साधकों को तुच्छ दृष्टि से देखता है, तो समझना चाहिए, उसके जीवन में कषायादि उपशान्त नहीं है, उसकी आत्मा समभाव

से भावित नहीं है, उसके आन्तरिक जीवन में विषमता है और वह सम्यग्चारित्र रूप समभाव अर्थात् — आत्मधर्म से अभी कोसों दूर है।

अन्तर में समभाव रहना ही सामायिक-सम्यग्चारित्र है

आगमों का स्पष्ट कथन है — “सामायिक आत्मा का स्वभाव समभाव है।^{२६} उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। ‘समभाव ही चारित्र (भावचारित्र) है।”^{३०} जीवन का संयम, सदाचार, तप आदि सब कुछ इसी में सन्निहित है। ‘समता से भावित आत्मा ही मोक्ष को प्राप्त होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।^{३१}

भगवान् महावीर ने भी कहा है—“लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में निन्दा और प्रशंसा में तथा सम्मान और अपमान में जो साधक सम रहता है, वही वस्तुतः श्रमण है, सममन है, शमन है।^{३२} प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी कहा गया है — “जो सब प्राणियों के प्रति सम बना रहता है वही सच्चे अर्थों में श्रमण है।^{३३} यही कारण है कि साधुवर्ग तथा तीर्थकर / अरिहंत आदि भी दीक्षा लेते समय जीवन भर के लिए सामायिक-आचरण करने की प्रतिज्ञा (संकल्प) करते हैं।^{३४ (i)} यही सामायिक चारित्र है। सम्यक् चारित्र है। इसमें अहिंसादि सभी महाव्रत आ जाते हैं। जो सदा के लिए सामायिक की साधना में संलग्न रहता है, वह साधु है, श्रमण है। आगमों में श्रावकों (श्रमणोपासकों) के लिए भी बारह व्रतों में ‘सामायिक’ एक स्वतंत्र व्रत है। श्रावक वर्ग भी समता की आय = लाभरूप सामायिक की अमुक निश्चित समय तक के लिए साधना करता है, अभ्यास करता है, ताकि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह समभाव रख सके।^{३४ (ii)}

साधु धर्म का मापदण्ड केवल बाह्यचार नहीं

आगमों तथा धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र जहाँ-जहाँ साधकों की जीवनचर्या का, बाह्य आचार का उल्लेख है, वहाँ सर्वत्र प्रमुखता समभाव की है। उत्सर्ग और अपवाद की, कल्प-अकल्प की, अनाचीर्ण और आचीर्ण की, विधि-निषेधरूप में आगमों में जहाँ-जहाँ चर्चा की गई है वहाँ-वहाँ समभाव को प्रमुखता दी गई है। समभाव में सत्य, अहिंसा आदि सभी का समावेश हो जाता है। किन्तु वर्तमान युग में जब हम वैचारिक वातायन से देखते हैं तो साधुधर्म का साधुओं के लिए आत्मधर्म की साधना का मापदण्ड कुछ और ही बना लिया गया है। सिर्फ बाह्य आचार, क्रियाकाण्ड या बाह्य विधि-निषेधों के गज से साधुता को नापा जा रहा है। बाहर में क्रियाकाण्डों का नाटक चल रहा है, द्रव्य चारित्र या बाह्य आचार का अभिनय किया जाता है भले ही अंदर में क्रोधादि कषायों की होती जल रही हो, पर-परिवाद, अभ्याख्यान आदि पापस्थानों का दावानल सुलग रहा हो। फिर भी कह दिया जाता है कि सच्चा साधु तो यही है।

किसी मुनि ने मर्यादानुसार आवश्यक वस्त्रों का उपयोग किया और अन्य सम्प्रदाय के मुनि ने बिल्कुल निषेध ही कर डाला। वस्त्रों का सर्वथा त्याग करने वाला वह मुनि वस्त्र रखने वाले साधुवर्ग को मुनि मानने से ही इन्कार कर देता है। क्योंकि इसमें वह परिग्रह की कल्पना करता है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ साधुता की भूमिका नहीं आ सकती। सूत का एक तार भी उनकी दृष्टि में संयमविधातक बन जाता है; परन्तु वस्त्र के अतिरिक्त अन्य पदार्थों को ग्रहण करने, अनेक प्रपंचों में संलग्न रहने तथा आभ्यन्तर परिग्रह में आकण्ठ डूबे रहने पर भी उनका साधुत्व-मुनित्व रह सकता है। इस प्रकार के एकान्त व गलत निर्णय के पीछे अपने साम्प्रदायिक व्यामोह तथा मिथ्या विचारों के दुराग्रह के सिवाय और क्या कारण है? एक साधारण सी बात

को कितना तूल दिया गया है? जरा तटस्थ बुद्धि से सोचने समझने का प्रयास करें तो यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि परिग्रह पदार्थों, व्यक्तियों और वस्तुओं में नहीं, उन पदार्थों, व्यक्तियों और वस्तुओं के प्रति ममता-मूर्च्छा में है। भगवान् महावीर ने तथा आचार्य उमास्वाति आदि ने मूर्च्छा को ही वस्तुतः परिग्रह कहा है। अध्यात्मवेत्ता वास्तव में मूर्च्छा या ममत्व भाव को ही परिग्रह बताते हैं। निश्चय दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु परिग्रह भी है और अपरिग्रह भी। वस्तु ही क्यों, यदि शरीर, अन्य उपकरण तथा कर्म आदि पर भी यदि मूर्च्छा है तो वह भी परिग्रह है और मूर्च्छा नहीं है तो परिग्रह नहीं है। आशय यह है कि परिग्रह पदार्थ के होने, न होने पर अवलम्बित नहीं, वह अवलम्बित है—पदार्थ के प्रति ममता, मूर्च्छा एवं आसक्ति होने, न होने पर।^{३५}

साधुता असाधुता का निर्णय?

बाह्य आचार पर से साधुत्व-असाधुत्व का झटपट निर्णय करने वाले लोग अपनी युगबाह्य जड़ स्थितिस्थापक नियमोपनियमों, परम्पराओं या बाह्य विधि-निषेधों पर से ही ऐसा अविचारपूर्वक निर्णय कर बैठते हैं। जैसे कोई दण्ड रखने में साधुत्व की मर्यादा मान रहे हैं, तो कोई मुखवस्त्रिका को लम्बी या चौड़ी रखने में। कुछ श्रमण वर्ग एक घर से एक बार आहार ग्रहण करना ही श्रमणाचार के अनुकूल बताते हैं तो कतिपय श्रमणवर्ग अवसर आने पर अनेक बार आहारादि लेना जरूरी समझें तो ले लेना भी, साध्वाचार के अनुकूल मानते हैं। कुछ महानुभाव वस्त्रादि का प्रक्षालन करने वाले मुनि को शिथिलाचारी और मलिन वस्त्र वालों को उत्कृष्टाचारी या दृढाचारी समझते हैं। कुछ साधक साबुन, पाउडर आदि से वस्त्र-प्रक्षालन को साधु मर्यादा-विरुद्ध समझते हैं और सिर्फ पानी से एवं सोडे आदि से धोने में उत्कृष्टता। जब कि उद्देश्य है; कपड़े की सफाई, फिर चाहे कोई यतनापूर्वक

सोडे से धोए या साबुन पाउडर से, इसमें क्या फर्क पड़ता है? दर्शनार्थ आने वाले बन्धुओं से आहारादि लेने, न लेने में पेन-बालपेन आदि से लिखने, न लिखने में भी उभयपक्षीय परम्परा चलती है। पत्रादि का अपने हाथ से लिखना भी मर्यादा भंग समझा जाता है, जब कि ऐसे साधक किसी गृहस्थ से लिखवाने में दोष नहीं मानते। अगर लिखने में दोष है तो लिखवाने में मर्यादाभंग का दोष क्यों नहीं लगेगा? आगमों में जिस कार्य को करने में पाप, दोष अपराध या मर्यादाभंग बताया है तो उसी कार्य को दूसरों से कराने तथा उस कार्य का अनुमोदन-समर्थन करने में भी पाप, दोष आदि कहा है, पुण्य या धर्म नहीं। इसी प्रकार हाथ-पैर का प्रक्षालन, केशलुंचन, विद्युत द्वारा चलित ध्वनिवर्धक यंत्र आदि का उपयोग इत्यादि छोटी-छोटी बाह्याचार की अनेक बातें हैं।

शिथिलाचारी, उत्कृष्टाचारी का निर्णय कैसे?

भगवान् महावीर के पहले के तीर्थकरों के युग में तथा भगवान् महावीर के समय में भी, एवं उनके निर्वाण के पश्चात् भी बाह्याचारों में द्रव्य क्षेत्र, काल, भावानुसार बहुत ही परिवर्तन हुए हैं। इस युग में भी हुए हैं और आगे भी होंगे। केवल बाह्याचार के आधार पर शिथिलाचार या उत्कृष्टाचार मान लेना या कहना कथमपि उचित नहीं है। यदि ऐसा माना जाएगा तो भगवान् अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक अचेल परम्परा को तथा नियतकालिक प्रतिक्रमण की एवं वर्षावास में चार महीने एक क्षेत्र में निवास की परम्परा को बदला तथा भगवान् पार्श्वनाथ के साधुवेश में पांचों ही रंग के वस्त्र पहनने की परम्परा प्रचलित हुई, ब्रह्मचर्य महाव्रत को पंचम महाव्रत में समाविष्ट करने की परम्परा प्रचलित हुई, एवं अनाचीर्णों की सूची में आई हुई शय्यातर, राजपिण्ड आदि कतिपय बाह्याचारों की मर्यादाएं भी बदलीं, तो क्या बाह्याचार, क्रियाकाण्ड, रूढ़ परम्परा, तथा विधि-निषेध के कुछ नियमोपनियमों में

ही चारित्र मानने वाले आग्रहशील साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के व्यक्तियों की दृष्टि में बीच के^{२२} तीर्थकर तथा उनके अनुगामी साधु-साध्वी शिथिलाचारी थे, या वे तीर्थकर क्या शिथिलाचार के उपदेशक या पोषक थे?

गणधर गौतम स्वामी से भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य केशीस्वामी मिले, तब भी गणधर गौतम ने उन्हें तथा उनके साधुओं को शिथिलाचारी नहीं कहा। इससे यह स्पष्ट है कि केवल उक्त बाह्याचार, क्रियाकाण्ड तथा कतिपय स्थूल नियमोपनियमों के आधार पर से ही चारित्र को शिथिल या उत्कृष्ट मानना या इसी आधार पर किसी साधु को उत्कृष्ट या हीन मानना साम्प्रदायिक उन्माद के सिवाय और कुछ नहीं है। ये बाह्य आचार या क्रियाकाण्ड अथवा परम्पराएँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार बदलती रही हैं और भविष्य में भी बदलेंगी।^{३६}

समभावी साधक तथापि परपरिवाद

आत्मधर्म की साधना का मूल चारित्र (भावचारित्र) है। इसमें महत्व सिर्फ क्रियाकाण्डों या बाह्याचार का नहीं, स्वात्मभाव की परिणति का है। चारित्र समभाव या वीतराग भाव में है। जो मोहकर्म के क्षय या क्षयोपशम से होता है। अतः बाह्य विधि-विधानों से चारित्र को, आत्म संयम को नापना ठीक नहीं है। कुछ महाशय तो अपने माने हुए परम्परागत बाह्य आचार-विचार से भिन्न समभावपोषक प्रणाली को देखते हैं तो तुरंत ही आगबबूला हो उठते हैं वे अपने मुख से अथवा लेखनी से उन शान्त विरक्त समभावी साधकों के लिए भ्रष्टाचारी, भेषधारी पतित या धर्मभ्रष्ट, सम्यक्त्वभ्रष्ट आदि अनर्गल अपशब्दों और गालियों का प्रयोग करते रहते हैं। सूत्रकृतांग सूत्र में पर-परिभव एवं परनिन्दक को संसार में परिभ्रमण का कारण बताया है।^{३७}

परनिन्दा-माया : जन्म-मरण के कारण

काश! ये लोग शान्तचित से विचार करें, महावीर के उपासक होने का दावा करने वाले ये व्यक्ति अपनी भाषासमिति का विचार करते और अपने जीवन के आन्तरिक पृष्ठों को पढ़ते। कठोर क्रियाकाण्ड एवं बाह्य नियमोपनियमों के पालन का अहंकार एवं दम्भ करते हैं, दूसरों को नीचा दिखाने एवं तिरस्कृत करने के लिए बाह्यक्रियाओं का प्रायः प्रदर्शन करते हैं उनकी कषायें तथा वासनाएँ उपशान्त नहीं, प्रत्युत अधिक उद्दीप्त होती हैं। ऐसे प्रदर्शन में प्रायः दम्भ, दिखावा और माया का सेवन होता है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ऐसे मायावी जीवन के लिए सचोट बात कही है-“जो मायावी है, सत्पुरुषों की निन्दा करता है वह अपने लिए कित्विषक भावना (पाप योनि की स्थिति) पैदा करता है।^{३८} मायापूर्वक की गई क्रियाएँ आत्म कल्याण में सहयोगी नहीं बन पातीं। यदि आभ्यन्तर जीवन में ग्रान्थियाँ हैं तो उसका बाह्य त्याग यथार्थ में सम्यक् त्याग नहीं है। आगमकार स्पष्ट विधान करते हैं - “यदि कोई व्यक्ति नग्न रहता है, मास-मास भर अनशन करके शरीर को कृश कर डालता है, किंतु अंतर में माया एवं दम्भ रखता है, वह जन्म-मरण के अनन्त चक्र में भटकता रहता है।^{३९}

भगवान् महावीर ने भी कहा है - “केवल मस्तक मुंडाने से या बाह्य वेष से अथवा क्रियाकाण्डों से कोई श्रमण नहीं हो जाता। समतायोग को अपनाने, जीवन में आनेवाली हर परिस्थिति में सम रहने वाला, समभाव रखने वाला ही श्रमण होता है।”^{४०} स्थानांगसूत्र के अनुसार-शिरोमुंडन के साथ-साथ चार कषायों तथा पंचेन्द्रियविषयों का मुण्डन=शमन - सन्तुलन - सममन रखने से वास्तविक मुण्डन होता है।^{४१} भाव-मुण्डन का अभिप्राय है, प्रत्येक कार्य(कर्म) करते हुए किसी प्रकार की आसक्ति, फलाकांक्षा, विचिकित्सा आदि का त्याग

करके सिद्धि और असिद्धि में सम होकर कर्म करो, समत्व में स्थित होना ही योग कहलाता है। समत्वयोग में स्थित पुरुष भगवद्गीता के अनुसार मन-वचन-काय को रागादि से दूषित न होने देकर समबुद्धि से युक्त रहता है, पुण्य और पाप दोनों का त्याग करना ही कर्मबंधन से छूटने का

उपाय है, यह समत्व योग ही कर्मों में कुशलता है।” अर्थात् कर्म करते हुए भी उससे किसी भी प्रकार से लिप्त नहीं होना है।^{४२} अतः आत्मधर्म के साधक को अपनी साधना में समदृष्टि एवं समत्वयोग को अपनाकर जीवन यात्रा करना हितावह है।



सन्दर्भ:

१. तेऽमी मानुष-रक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
— भर्तृहरि नीतिशतक ६४
२. (क) येषां न विद्या, न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुविभारभूता,
मनुष्यरूपेण मृगाश्वरंति।।
३. धम्मो बलु सहावो — कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४७८
४. सुखस्य मूलं धर्मः — चाणक्यनीति सूत्र - २
५. धम्मोमंगलमुक्किडं — दशवैकालिक १/१
६. ‘ओसहमजलं च सब्ब दुक्खाणं’ - धम्मोबलमवि विउलं।’
दीर्घनिकाय ३/४/२
७. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः — वैशेषिक दर्शन
८. संसार दुःखतः सत्वान् यो धरति उत्तम सुखे।
सद्दृष्टि - ज्ञान - वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।।
— रत्नकरण्ड श्रावकाचार २
१०. आत्मशुद्धि साधनं धर्मः — जैनतत्त्वदीपिका
११. धारणाद्धर्म मित्याहुः - मनुस्मृति
१२. दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः। - मनुस्मृति
१३. ‘ न लिंगम् धर्मकारणम्।’ - मनुस्मृति ६/६६
१४. पच्चयत्यं च लोगस्स नाणाविह विगप्पणं।
— उत्तराध्ययन, सूत्र २३/३२
१५. धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।’ -मनुस्मृति ८/१५
१६. अप्पा खलु सययं रक्खियब्बो, सब्बिंदिएहिं सुसमाहिण्हिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइसु रक्खिओ सब्बदुहाण मुच्चइ।।
— दशवैकालिक विवित्तचरिणा, बीया चूला।१६
१७. एस धम्मे धुवे णिच्चे सासए.....। — आचारांग
१८. आवश्यकसूत्र चजवीसत्यव पाठ।
१९. चारित्तं खु धम्मो, सो धम्मो समोत्ति णिदिट्ठो। - प्रवचन सार

२०. चारित्तं समभावो। - पंचास्तिकाय १०७
२१. समयाए धम्मे आरिएहिं पवेइए।’ आचारांग/समया धम्ममुदाहरे
मुणी — सूत्रकृतांग १/२/२/६
२२. जो समो सब्बभूएसु, तसेसु धावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं।। — अनुयोगद्वार
२३. आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्टे।
आया संवरे, आया संवरस्स अट्टे...।। भगवती सूत्र
२४. सब्बभूयप्पभूयस्स समं भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ।। दशवै ४/६
२५. (क) ‘एगे आया।’ स्थानांग १/१
(ख) सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोइ सिद्ध होय।’
२६. ‘संमं मे सब्बभूदेसु।’ — नियमसार १०२
२७. ‘यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।’
सुत्तनिपात ३/३७/२७
२८. ‘जं इच्छसि अप्पणतो, तं इच्छस्स परस्स वि।’
— बृहत्कल्पभाष्य ४५८४
सब्वं जगं तु समयाणुप्पेही पियमपियं कस्सइ णो करेज्जा।
— सूत्रकृतांग १/१०/७
- सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वदं।
जे उ तत्य विउस्संति, संसारे ते विउस्सिया
— सूत्रकृतांग १/१/२/२३
२९. “समभावो सामाइयं” — आवश्यकनिर्युक्ति
३०. “चारित्तं समभावो” — पंचास्तिकाय
३१. समभावभावियप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो। — हरिभद्रसूरि।
३२. लाभालाभे सुहे-दुक्खे, जीविए मरणे तथा।
समो णिंदा-पसंसासु, तथा माणावमाणओ।।
— उत्तरा. १६/६०
३३. ‘सब्वपाणेषु समो से समणो होई’ — प्रश्नव्याकरण

३४. (क) दुविहे सामाइए पण्णत्ते — आगार सामाइए अणगार सामाइए ।
— स्थानांग ठाणा - २

(ख) समस्स आयाः लाभः सामायिकम् -
'करेमि भंते सामाइयं' — आवश्यक

३५. तत्त्वार्थसूत्र, मूलाचार

३६. (क) मूर्च्छा परिग्रहः — तत्त्वार्थसूत्र
(ख) मुच्छा परिग्रहो वुत्तो । दशवै.

३७. जो परिभवइ परं जणं, संसारे परिवत्तइ महं ।

अदु इंखिणियाउ पाविया, इइ संखाय मुणीण मज्जए । ।”

— सूत्रकृतांग १/२/२/२

३८. जइविय णगिणे किसे चरे, जइ वि भुंजिय मास मंत सो ।

३९. जे इह मायाइ मिज्जइ आगंता गब्भाय णंतसो । ।

— सूत्रकृतांग १/२/१/८६

४०. (क) न वि मुंडिएण समणो । (ख) समयाए समणो होइ.... ।”

४१. स्थानांग सूत्र ठ.-१०

४२. (क) सिद्धयसिद्धयोः समं भूत्वा, समत्वं योग उज्यते ।

योगः कर्मसु कौशलम् । — भगवद्गीता ।



विद्वद्वर्य श्री विनोद मुनिजी ने डूंगरपुर (राजस्थान) के एक सम्भ्रान्त ओसवाल परिवार में जन्म लिया। आपके हृदय में लघु वय में ही वैराग्य की भावना जगी और आपने आचार्य प्रवर श्री गणेशीलालजी महाराज के श्रीचरणों में श्रमण दीक्षा ग्रहण की। आपने अपने लघु भ्राता श्री सुमेर मुनिजी महाराज के सहयात्री बन कर अनेकों प्रदेशों की यात्रा की और धर्म का प्रचार किया। आपने प्राकृत, हिन्दी व संस्कृत आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। आप एक श्रेष्ठ प्रवक्ता हैं। वर्तमान में आप अपने पारम्परिक गुरुजन श्री मगन मुनिजी एवं पण्डितरत्न श्री नेमीचन्दजी महाराज के साथ अहमदनगर (महाराष्ट्र) में निवसित हैं।

— संपादक

नारी जीवन के मूल्य को, उसके अस्तित्व को समझकर, स्वीकार करके ही भगवान् महावीर ने अपने धर्मसंघ में / तीर्थ में पुरुष के साथ ही नारी को स्थान दिया था। उन्होंने किसी प्रकार कोई हिचक/संकोच नहीं किया था, जब कि समकालीन तथागत बुद्ध ने अपने संघ में नारी को सम्मिलित करने में संकोच किया था। शिष्य भिक्षु आनन्द के निवेदन को नकार दिया था। अन्ततः इस आग्रह को स्वीकार करना पड़ा किन्तु अन्तर में उपेक्षा ही थी।



मर्यादाएं बंधन कब बनती हैं, जब मन न माने। जब मन ठीक हो तो ये बन्धन नहीं कहलाती। फिर मर्यादा, मर्यादा रहती है। लक्ष्मण रेखा की तरह रक्षात्मक बन जाती है। इनके पीछे भाव जुड़ा रहता है मन का कि “ये जो सीमा रेखाएं हैं,” मुझे मेरी आत्मा को मेरी जीवन साधना के क्षेत्र में बनाये रखने के लिए हैं। नहीं तो, कभी भी मैं उच्छृंखल उहण्ड बन सकता हूँ, कभी भी लड़खड़ाकर बाहर गिर सकता हूँ। उसको थामने के लिए ये सीमा रेखाएं हैं।

— सुमन वचनामृत